इकाई-2

काव्य-भेद : रूपगत भेद

पाठ-संरचना

2·0 उद्देश्य

2·1 परिचय

2·2 काव्य के रूपगत भेदोपभेद

2·3 गद्य काव्य के भेद

2·4 पद्य काव्य के भेद

2·5 नाटक (रूपक-प्रकार)

2·6 रूपक के अन्य भेद

2·7 महाकाव्य का स्वरूप

2·8 खण्ड-काव्य

2·9 मुक्तक काव्य

2·10 आख्यायिका

2·11 कथा

2·12 कथा के भेद

2·13 चम्पू काव्य

2·14 सारांश

2·15 अभ्यास के प्रश्न

2·16 पठनीय ग्रंथ

2·0 उद्देश्य :

इस पाठ का उद्देश्य काव्य-भेद अर्थात् काव्य के विविध रूपों से छात्रों को परिचित कराना है। काव्य-लक्षण का विवेचन करने के क्रम में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि काव्य के विविध रूपों में समान रूप से कुछ ऐसे तत्त्व अन्तर्निहित रहते हैं, जो उन्हें काव्येतर कृतियों से स्वतन्त्र पहचान दिलाते हैं। इस एकता के होने पर भी काव्य-कृतियों में परस्पर भेद बताने वाले तत्त्व भी सम्मिलित रहते हैं। काव्य के अलग-अलग भेद उसकी रूप-रचना तथा उत्कर्ष की कोटियों के आधार पर निर्धारित किये जाते हैं। इस प्रसंग में काव्य के रूप के आधार पर निर्धारित भेदों का ही विवेचन किया जाएगा। उत्कर्ष-अपकर्ष के आधार पर काव्य के जो उत्तम, मध्यम और उधम भेद माने गये हैं उन पर स्वतन्त्र पाठ में यथास्थान विचार किया जाएगा।

मनुष्य के भाव-विचार, साधारण स्थिति में भी अनेक रूप ग्रहण कर व्यक्त होते हैं। जब अपूर्व वस्तु के निर्माण में सक्षम कवि की प्रतिभा काव्य के सृजन में प्रवृत्त होती है तब वह रूप और अर्थ; दोनों ही क्षेत्रों में

नवीन-नवीन उद्भावनाएँ करती है। इससे नये-नये काव्य-रूपों का—काव्य भेदों का—विकास होता रहता है। यदि काव्य-भेद के ऐतिहासिक विकास पर दृष्टि डालें, तो यह स्पष्ट होगा कि आधुनिक भारतीय भाषाओं में काव्य के जितने भेद (रूप अर्थात् विधाएँ) उपलब्ध हैं वे सभी संस्कृत भाषा के काव्य में उपलब्ध नहीं होते। काल-क्रम से काव्य के अनेक भेदों की उद्भावना कवियों की प्रतिभा करती रही है। संस्मरण संस्मरणात्मक कहानियाँ, रिपोर्ताज, ललित निबन्ध आदि इसके उदाहरण हैं। उल्लेख्य है कि संस्कृत काव्यशास्त्र के रचना-काल तक जिस विपुल साहित्य की रचना हो चुकी थी और उसके जिन भेदों के स्वरूप पर आचार्यों ने विचार किया था उन्हीं का विवेचन यहाँ अभिप्रेत है।

काव्य-भेदों के अनेक उप-भेद आचार्यों ने किये हैं और उन उपभेदों का स्वरूप-विवेचन सटीक उदाहरणों के साथ किया है। स्वभावतः ही काव्य-भेद का विवेचन अत्यन्त विशद और विस्तृत हो गया है। उन सब का एकत्र विवेचन किसी ग्रन्थ में ही किया जा सकता है। इस एक पाठ में छात्रों की आवश्यकता को ध्यान में रख कर काव्य के भेदोपभेदों का संक्षिप्त परिचय देना ही हमारा उद्देश्य होगा। काव्य के जो भेद बहुचर्चित और अधिक लोकप्रिय रहे हैं उनका अपेक्षाकृत विस्तृत विवेचन किया जाएगा और यह अपेक्षा की जाएगी कि छात्र उन पर विशेष ध्यान देकर उन्हें हृदयंगम करें।

कुछ समीक्षकों ने काव्य के इन विविध रूपों में से नाटक को सर्वाधिक रमणीय मान लिया है–'काव्येषु नाटकं रम्यम्', किन्तु यह निरपेक्ष रूप में सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है। यह सही है कि नाटक का प्रभाव अन्य काव्यरूपों की अपेक्षा अधिक व्यापक होता है। दृश्य रूप में मंच पर अभिनीत होने के कारण बच्चे, बूढ़े, अनपढ़-गँवार भी नाटक का आनन्द ले सकते हैं, जबकि कलात्मकता के कारण महाकाव्य, मुक्तक काव्य आदि काव्य-भेद केवल साहित्यक संवेदना-युक्त सहृदय पाठक या श्रोता को ही प्रभावित कर सकते हैं, पर इस आधार पर इन काव्य भेदों में गुणात्मक भेद नहीं किया जा सकता। सभी काव्यरूप समान महत्त्व रखते हैं। यह रचनाकार की प्रतिभा और व्युत्पत्ति पर निर्भर करता है कि किसी काव्य-रूप में कितनी रमणीयता और गरिमा का सृजन कर दे। इस पाठ में काव्य के विविध प्रकार का विवेचन और एक स्वतन्त्र पाठ में उत्कर्ष-अपकर्ष के आधार पर काव्य-भेदों का विवेचन हमारा उद्देश्य होगा।

2·1 परिचयः

काव्य-भेद शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया जाता है। काव्य के विविध प्रकार, अर्थात् उसकी रूप-रचना के विविध रूप काव्य-भेद के अन्तर्गत आते हैं। आधुनिक भाषा में कहें तो काव्य की विविध विधाओं को काव्य-भेद कहते हैं। इस संदर्भ में उन्हीं काव्य-भेदों अर्थात् काव्य के विविध रूपों या प्रकारों का—काव्य की विविध विधाओं का—विवेचन अभिप्रेत है।

काव्य में भाव और विचार की भाषाबद्ध कलात्मक अभिव्यक्ति होती। यह बात काव्य के सभी भेदों या रूपों में समान रूप से मिलती है। इस लिए काव्य की विविधतापूर्ण रूप-रचना को समग्रतः काव्य कहा जाता है। कवि के अन्तर की अनुभूति जब सघन होकर उसके मानस में रूप ग्रहण कर लेती है तब वह कहीं छन्दबद्ध पद्य में व्यक्त होती है तो कहीं गद्य में, कहीं सहज-सरल भाषा में अभिव्यक्त होती है तो कहीं अलंकृत भाषा में। कवि का सौन्दर्य-बोध भाषा में विवरणात्मक रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है और नाटकीय रूप में विभावादि बाह्य वस्तु पर प्रक्षिप्त कर भी। कवि की भावानुभूति का चित्रण वस्तुनिष्ठ रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है और आत्मनिष्ठ भावों की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति के रूप में भी। अभिव्यक्ति के इन विविध रूपों से काव्य-रूप में विविधता आती है, उसके विभिन्न प्रकार निर्मित होते हैं।

संस्कृत साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने अपने समय तक रचित काव्य के विविध रूपों को दृष्टि में रख कर उनका वर्गीकरण किया है और उन रूपों की विशेषताओं का सूक्ष्म विवेचन किया है। काव्य-भेद का वह निरूपण इतना व्यापक था कि परवर्त्ती काल में—वर्तमान काल तक—कवि की प्रतिभा से काव्य के जितने नवीन भेदों का सृजन हुआ है, वे सभी किसी-न-किसी रूप में, इन काव्य भेदों के अन्तर्गत आ जाते हैं। उदाहरण के लिए संस्कृत-काल के बाद मध्यकालीन और आधुनिक भारतीय भाषाओं में गद्य साहित्य के जितने नवीन रूपों की उद्भावना हुई है, उन्हें कथा, आरव्यायिका आदि काव्य-भेद के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इसी तरह पद्य काव्य के क्षेत्र में जो नवीन रूप विकसित हुए हैं, उन्हें प्रबन्धकाव्य, खंड काव्य आदि वर्ग में रखा जा सकता है। गीति-नाट्य जैसे आधुनिक काव्यभेद को काव्य के नाट्य-रूप और गीतिकाव्य की विशेषताओं के परिप्रेक्ष्य में समझा-परखा जा सकता है।

काव्य की रूप-रचना के आधार पर उसके अनेक भेदोपभेद किये गये हैं। सर्वप्रथम काव्य के दो मुख्य भेद माने गये हैं–**दृश्य काव्य** और **श्रव्य काव्य।** दृश्य काव्य में रचनाकार अपने अनुभव और विचार को बाह्य परिस्थितियों पर प्रक्षिप्त कर इस रूप में प्रस्तुत करता है कि उसका रंगमंच पर अभिनय किया जा सके। काव्य के इस भेद में–दृश्य रूप में–नाट्य कृति और दर्शक के बीच अभिनय करने वाले कलाकार आते हैं, जिनके अभिनय-कौशल पर भी नाट्य का प्रभाव बहुत-कुछ निर्भर रहता है। नाट्य कृति में संगीत कला का भी समावेश रहता है, जिससे उसके प्रभाव की वृद्धि होती है। ध्यातव्य है कि नाट्यकृति का आनन्द उसे पढ़ कर भी लिया जा सकता है। इस तरह दृश्य काव्य में श्रव्य काव्य की भी कुछ विशेषताएँ मिलती हैं। श्रव्य काव्य-काव्य का वह भेद है जिसे पढ़ कर या सुन कर उसमें व्यक्त कवि के भाव-विचार का रस लिया जाता है। इस प्रकार श्रव्य शब्द की सीमाओं में पाठ्य का अर्थ भी समाविष्ट है। यह विभाजन व्यावहारिक है–तात्त्विक नहीं। इसलिए दृश्य काव्य में श्रव्य काव्य के कुछ गुण मिल जाते हैं तो श्रव्य काव्य का नाट्य रूपान्तर भी किया जाता है। ये दोनों काव्य के ही अलग-अलग भेद हैं। अतः दोनों में काव्यत्व के समान धर्म उपलब्ध होते हैं।

दृश्य काव्य को रूपक या नाट्यकृति भी कहते हैं, जिसके दस उपभेद माने गये हैं–नाटक, प्रकरण, भाण आदि। श्रव्य काव्य के मुख्य दो भेद हैं–गद्य काव्य और पद्य काव्य। संस्कृत साहित्य-परम्परा में पद्य काव्य को छन्द-बद्ध काव्य भी कहा जाता था, पर आधुनिक युग में पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से छन्दमुक्त या मुक्तछन्द वाले पद्य काव्य भी लिखे जाते हैं। पद्यकाव्य को कविता भी कहते हैं। गद्य काव्य के कथा आख्यायिका आदि तथा पद्य काव्य के प्रबन्ध काव्य (महाकाव्य) खंडकाव्य, मुक्तक काव्य आदि उपभेद स्वीकृत हैं। इस पाठ में इन काव्य-भेदों और उपभेदों का स्वरूप-विवेचन किया जाएगा।

२.२ काव्य के रूपगत भेदोपभेद (१) :

काव्य भाव और विचार की भाषाबद्ध रमणीय अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति का सौन्दर्य काव्य के सभी भेदों (या रूपों) में समान रूप से रहता है। उसके अभाव में कोई कृति काव्यकृति नहीं मानी जाती। काव्य के भेदों और उपभेदों में काव्य के समान धर्म का होना आवश्यक है।

भाव, विचार, प्रकृति के रूप तथा जीवन की विविध स्थितियों के चित्रण के लिए काव्य के विभिन्न रूपों का निर्माण किया जाता है, भाषा के गद्य या पद्य रूप का व्यवहार किया जाता है, उनका विवरणात्मक चित्रण किया जाता है अथवा विभाव आदि के रूप में बाह्य वस्तुओं पर प्रक्षेप कर उन्हें अभिनेय बना कर प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार काव्य के दृश्य, श्रव्य आदि अनेक भेद और उनके उपभेद बनते हैं। इस प्रसंग में काव्य के भेदोपभेद का विवेचन अभीष्ट है।

रूप-रचना की दृष्टि से काव्य के मुख्य दो भेद माने गये हैं–**दृश्यकाव्य** और श्रव्यकाव्य। दृश्य काव्य को नाट्य या रूपक भी कहा जाता है। दृश्य काव्य के दस उपभेद माने गये हैं–(1) नाटक, (2) प्रकरण (3) भाण (4) प्रहसन (5) डिम (6) व्यायोग (7) समवकार (7) वीथी (9) अङ्क और (10) ईहामृग। धनंजय ने 'दशरूपक' में नाट्य या रूपक के इन दस भेदों का विस्तृत विवेचन किया है। श्रव्य काव्य के मुख्य दो भेद माने गये हैं–**गद्य काव्य** और **पद्य काव्य।** इन दोनों का; गद्य और पद्य का; मिश्रित प्रयोग जिस काव्य में होता है उसे चम्पू काव्य कहते हैं–'गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते' (साहित्य दर्पण)।

२.३ गद्य काव्य के भेदोपभेद :

गद्य काव्य में छन्द के नियम का बन्धन नहीं होता—वृत्तबन्धोज्झितं गद्यम्—पर उसमें भी लय का सर्वथा अभाव नहीं होता। गद्य-रचना में भी सरसता, रमणीयता और चमत्कार के होने से काव्यत्व रहता है। इसी में गद्यकाव्य व्यपदेश की सार्थकता है। कुछ विचारकों की तो यह मान्यता रही है कि गद्य कवियों की कसौटी है–"गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।" छन्दबद्ध होना अर्थात् पद्यबद्ध होना काव्य का आवश्यक लक्षण नहीं। आयुर्वेद, ज्योतिष आदि के ग्रन्थ भी पद्य-बद्ध हैं, पर उन्हें कोई काव्य नहीं मानता। दूसरी ओर कादम्बरी, हर्षचरित आदि को उत्कृष्ट कोटिका गद्य-काव्य माना जाता है। गद्यकाव्य के तीन मुख्य उपभेद माने गये हैं–

1. गद्य-प्रबन्ध
2. निर्बन्ध या मुक्त गद्य और
3. निबन्ध।

गद्य-प्रबन्ध में कथानक का सुसंगठित विकास होता है। इसे कथा-साहित्य भी कहा जाता है। **निबन्ध** में कथा का अभाव रहने पर भी कोई भावधारा या विचार-शृंखला निबद्ध रहती है। इसमें वैयक्तिक भाव या विचार का क्रमबद्ध रोचक विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

अनिबद्ध गद्यकाव्य में न तो कथानक होता है, न शृंखलाबद्ध विचार-क्रम। यह मुक्त गद्यकाव्य है, जिसमें सूक्तिसंग्रह भाव-गद्य भावमुक्तक आदि आते हैं।

गद्य प्रबन्ध के, अर्थात् कथा-साहित्य के पाँच उपभेद माने गये हैं। वे हैं—कथा, खंड-कथा, परिकथा, आख्यायिका और कथानिका। कथा के भी उपाख्यान, आख्यानक, उपकथा, वृहत्कथा आदि अनेक उपभेद किये गये हैं।

२.४ पद्यकाव्य के भेदोपभेद :

छन्दबद्ध काव्य को अर्थात् पद्य काव्य को कविता भी कहते हैं। पद्य काव्य के दो उपभेदों का उल्लेख आचार्य वामन ने किया है। उनके मतानुसार कथानक की क्रमबद्धता के आधार पर पद्य काव्य के दो भेद होते हैं—निबद्ध और अनिबद्ध–'तदनिबद्धं निबद्धं च।' अनिबद्ध का अर्थ है–मुक्तक और निबद्ध का अर्थ है प्रबन्ध रूप। प्रबन्धात्मक रचना के अन्तर्गत महाकाव्य, खण्ड काव्य आदि रूप आते हैं। प्रबन्ध-काव्य के तीन उपभेद हैं– पुराण, आख्यान और महाकाव्य। अठारह पुराणों में सृष्टि के आरम्भ और विकास की कथा रोचक रूप में कही गयी है। आख्यान काव्य में प्रेम, नीति, भक्ति, शौर्य आदि के काल्पनिक और रमणीय कथानक का मधुर शैली में वर्णन होता है। चरित-काव्य और महाकाव्य भी प्रबन्धात्मक रचना के अलग-अलग रूप हैं। मुक्तक काव्य में कथा की अन्तर्धारा नहीं होती। किसी कल्पित सन्दर्भ में अन्तर की गहन अनुभूति की मार्मिक व्यंजना इसकी विशेषता होती है। संक्षिप्तता और व्यंजकता मुक्तक काव्य की विशेषता है। जहाँ गहन भावनुभूति की संगीतात्मक अभिव्यंजना हो वहाँ इसे गीतिकाव्य भी कहते हैं। उल्लेख्य है कि कथा की अन्तर्धारा रहने पर भी अनुभूति की आत्मनिष्ठता प्रधान

हो तो उसे कथात्मक गीति काव्य कहते हैं। कालिदास का 'मेघदूत' इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। रूप, छन्द, शैली आदि के आधार पर काव्य के जो भेदोपभेद किये गये हैं उन्हें इस तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है–

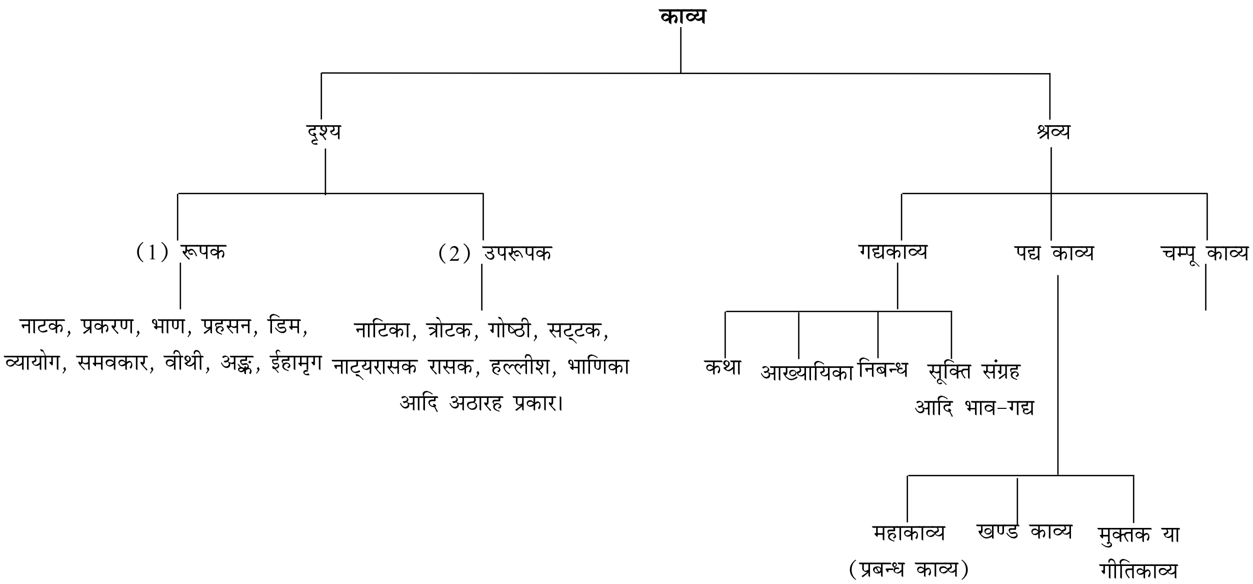

इस वर्गीकरण के अतिरिक्त कुछ आचार्यों के द्वारा विभिन्न आधारों पर काव्य-भेद के अलग-अलग वर्ग निर्धारित किये गये हैं, जो सर्वमान्य या बहु-चर्चित नहीं हैं। उदाहरण के लिए, भाषा के आधार पर काव्य के तीन भेद माने गये हैं–संस्कृत काव्य, प्राकृत काव्य और अपभ्रंश काव्य। विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि ये भेद काव्य के नहीं, भाषा के हैं। तथ्य यह है कि काव्य का कोई एक रूप संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश; तीनों भाषाओं में समान रूप में पाया जाता है। अत: भाषा के आधार पर काव्य के अलग-अलग भेद नहीं किये जा सकते । ऐसे वर्गीकरण में भेद-निरूपण के प्रति अतिशय आग्रह का ही पता चलता है।

समास की दीर्घता, अल्पता और अनुपस्थिति के आधार पर गद्य काव्य के तीन प्रकार माने गये हैं–वृत्तगंधि, चूर्णक और उत्कलिका। वृत्तगंधि गद्य को मुक्तक गद्य भी कहा गया है। इसमें समास का अभाव रहता है। चूर्णक में अल्प मात्रा में समास का प्रयोग होता है तो उत्कलिका में दीर्घ-समासा पद-रचना होती है। उल्लेख्य है कि असमासा, अल्प-समासा और दीर्घ-समासा रचना शैली या रीति की विशेषताएँ हैं जिन पर रीतिवादी आचार्यों ने विस्तार से विचार किया है। उन्होंने समास के आधार पर रीति के ही अलग-अलग भेद किये हैं। समास को काव्य-भेद का आधार नहीं मान कर काव्य-शैली का भेद मानना ही उचित है।

विभिन्न आधारों पर काव्य के जो भेद निर्धारित किये गये हैं उनमें से भाव-वैभव और कलात्मक उत्कर्ष की दृष्टि से **नाटक, महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक काव्य, कथा** और **आख्यायिका** काव्य-रूप अधिक चर्चित रहे हैं। वस्तुत: संस्कृत साहित्य की अधिकांश कालजयी रचनाएँ इन्हीं वर्गों में आती हैं। उनके स्वरूप का विशद विवेचन यहाँ अपेक्षित है। काव्यशास्त्रीय विचार की दृष्टि से अन्य काव्य-रूपों का भी महत्त्व है। अत: उनका भी संक्षिप्त परिचय यहाँ वांछनीय होगा ।

२.५ नाटक :

दृश्य काव्य के लिए सामान्यतः रूपक शब्द का प्रयोग किया जाता है। धनंजय ने रूपक के दश रूपों को दृष्टि में रख कर ही अपने ग्रन्थ का नाम 'दशरूपक' रखा था। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य में रूपक के दश रूपों की ही प्रसिद्धि रही, उपरूपक के अठारह रूपों का प्रचलन नहीं के बराबर ही हुआ। नाटक रूपक का सबसे अधिक लोकप्रिय और गरिमामंडित कलात्मक रूप सिद्ध हुआ है। यही कारण है कि नाट्यशास्त्र से लेकर परवर्ती समग्र भारतीय काव्य-शास्त्र में नाटक के स्वरूप का—उसके अंगों का—बहुत व्यापक, गम्भीर और सूक्ष्म विवेचन किया गया है। नाटक की रचना भारतीय साहित्य में ही नहीं, यूनान के साहित्य में भी बहुत प्राचीन काल से ही होने लगी थी। भारतीय साहित्य-चिन्तन के आदि आचार्य भरत ने काव्य के इस दृश्य रूप को मुख्यतः ध्यान में रख कर इसके अंगोपांगों का विस्तृत विवेचन किया है। आचार्य भरत के उपरान्त धनंजय का ध्यान रूपक के दश भेदों के विवेचन पर केन्द्रित रहा। धनिक ने 'दशरूपक' की टीका में नाट्य-चिन्तन को स्पष्टता और व्यापकता प्रदान की। इस नाट्य-चिन्तन की परम्परा में नाटक के स्वरूप का गम्भीर विवेचन स्वाभाविक ही था। नाटक के साहित्यिक महत्त्व और मूल्य का प्रमाण इस बात में भी मिलता है कि समस्त काव्य-भेदों का स्वरूप निरूपण करने वाले विश्वनाथ आदि आचार्यों ने भी काव्य के एक प्रधान भेद—नाटक का स्वरूप-निरूपण बड़े विस्तार के साथ किया है।

आदि आचार्य भरत के नाटक में देवता, मनुष्य, राजा तथा लोक-प्रसिद्ध उदात्तचेता व्यक्तियों के जीवन-वृत्त का अनुकरण आवश्यक माना था–

देवतानां मनुष्याणां, राज्ञां लोकमहात्मनाम्।
पूर्ववृत्तानुचरितं नाटकं नाम तद्भवेत् ।।–नाट्यशास्त्र

धनंजय ने दशरूपक में 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यं' कह कर आचार्य भरत के ही नाट्य सम्बन्धी विचार को शब्द-भेद से प्रस्तुत किया। यह सामान्य रूप से नाट्य अर्थात् रूपक का लक्षण है, जो रूपक के दसो भेदों में, किसी-न-किसी रूप में अवश्य मिलता है। नाटक रूपक का प्रधान भेद है, इसलिए उसमें उदात्त चरित्र वाले मनुष्य, देवता, राजा आदि के क्रिया-कलाप का–उनके पूर्ववृत्त का—अनुकरण करने वाली रचना को 'नाटक' कहा है। नाट्य के प्रकरण, भाण आदि भेदों में उदात्तचरित देवता, मनुष्य आदि के पूर्व-वृत्त के अनुकरण की अपेक्षा नहीं की जाती। क्षुद्र व्यक्ति के कार्य-व्यापार का अनुकरण करने वाली रचना को नाट्य का कोई रूप तो माना जा सकता है, पर उसे नाटक का गरिमापूर्ण व्यपदेश नहीं दिया जा सकता।

नाटक का सुव्यवस्थित लक्षण पण्डित विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में प्रस्तुत किया है। उनके मतानुसार नाटक की कथावस्तु प्रसिद्ध या विख्यात होनी चाहिए–'नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्'। ध्यातव्य है कि विश्वनाथ के पूर्ववर्ती 'आचार्य शंकुक ने यह मान्यता व्यक्त की थी कि नाटक में इतिहास-प्रसिद्ध घटनाओं का ही वर्णन किया जाना चाहिए। अप्रसिद्ध घटनाओं का नाटक में प्रदर्शन नहीं होना चाहिए। अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती में इस विचार को और विस्तार देते हुए कहा था कि नाटक में लोक-प्रसिद्ध घटनाओं का तो वर्णन होना ही चाहिए, साथ ही उन घटनाओं से सम्बद्ध प्रसिद्ध स्थानों में नायक को रख कर उनका वर्णन किया जाना चाहिए। आशय यह कि नाटक की कथावस्तु तो प्रसिद्ध हो ही, उसका देश-काल-वातावरण भी लोक-प्रसिद्ध होना चाहिए। पंडित विश्वनाथ ने आचार्य भरत से लेकर अपने सभी पूर्ववर्ती नाट्याचार्यों के नाटक-सम्बन्धी विचार को दृष्टि में रख कर नाटक के कथानक, चरित्र, वातावरण आदि का सुव्यवस्थित विवेचन किया है। नाटक की जिन विशेषताओं का उल्लेख उन्होंने किया है उनका स्पष्टीकरण अपेक्षित है।

नाटक की घटनाओं का विख्यात होना, नाटक की कथावस्तु की योजना के लिए आवश्यक माना गया है। ध्यातव्य है कि इतस्तत: बिखरी हुई घटनाएँ कथावस्तु नहीं होतीं। कथावस्तु की योजना घटनाओं के कलात्मक विन्यास से होती है। इस तरह नाटक की कथा के लोकप्रसिद्ध होने पर भी नाटककार की प्रतिभा प्रसिद्ध घटनाओं का ऐसा कलात्मक संयोजन करती है कि उससे एक अखंड प्रभाव का सृजन सम्भव होता है। अत: ख्यातवृत्त का अभिप्राय है—प्रसिद्ध घटनाओं के कलात्मक संयोजन से नाटक की कथावस्तु की रचना। नवोद्भावित कथावस्तु पर भी नाटक लिखे जा सकते हैं, इस पर विश्वनाथ ने विचार नहीं किया है।

नाटक में कथावस्तु के सुसंगठित और क्रमबद्ध विकास पर विशेष बल दिया गया है। इसलिए नाटक की कथावस्तु में पाँच सन्धियों का होना आवश्यक माना गया है–**'पञ्चसन्धिसमन्वितम्' ।** सभी भारतीय आचार्यों ने एकमत से नाटक की कथावस्तु को पाँच सन्धियों में व्यवस्थित करना आवश्यक माना है। इसे स्पष्ट करने के लिए नाटक की पाँच अर्थप्रकृतियों और उन्हें निश्चित दिशा में विकसित करने वाली पाँच कार्यावस्थाओं का परिचय देना वांछनीय है।

अर्थप्रकृति–नाटक में अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि के कारण को अर्थप्रकृति कहते हैं। अर्थ-प्रकृतियाँ पाँच प्रकार की मानी गयी हैं–**बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी** और **कार्य** । ये पाँचों नाटक के नायक के इष्ट लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होते हैं अथवा कथानक को नाटकीय रूप देने में साधक होते हैं। धर्म, अर्थ और काम; ये तीन मानव-जीवन के अर्थ या पुरुषार्थ माने जाते हैं। नाटक में जीवन के इन अर्थों की प्राप्ति के जिन उपायों का वर्णन किया जाता है, उन्हें अर्थप्रकृति कहा जाता है।

नाटक के प्रधान फल अर्थात् लक्ष्य की प्राप्ति का हेतु बीज कहलाता है, जो नाटक में क्रमश: विकसित होता है। बीज नाम की सार्थकता इस बात में है कि नाटक के इस अंश में इतिवृत्त या घटना का बीज-वपन किया जाता है और आगे उसका क्रमिक विकास दिखाया जाता है।

बिन्दु-नामक अर्थप्रकृति में इतिवृत्त के बीज का प्रसार होता है। जैसे पानी पर तेल की बूंद पड़ने से वह तुरत फैलने लगती है उसी तरह बीज रूप में निहित कथा का बिन्दु में प्रसार होता है और अन्तत: कार्य नामक अर्थप्रकृति में उसकी चरम परिणति हो जाती है। ये तीन नाटक की आधिकारिक कथावस्तु के क्रमश: विकसित होकर चरम परिणति तक पहुँचने की स्थितियाँ हैं। इनके अतिरिक्त आधिकारिक या मुख्य कथा वस्तु में योग देकर उसके प्रभाव की वृद्धि करने वाली कुछ अवान्तर कथाओं की योजना भी नाटक में की जाती है, जिसके दो रूप होते हैं–पताका और प्रकरी। पताका उस अवान्तर कथा को कहते हैं जो आधिकारिक कथावस्तु के समानान्तर दूर तक चलती है, जबकि प्रकरी कुछ ही दूर तक चलती है। पताका और प्रकरी की सार्थकता आधिकारिक कथावस्तु के प्रभाव को बढ़ाने में होती है। आधिकारिक कथावस्तु की तीन अर्थप्रकृतियाँ–बीज, बिन्दु और कार्य तथा अवान्तर कथा की दो–पताका और प्रकरी को मिला कर पाँच अर्थप्रकृतियाँ हो जाती हैं।

कार्यावस्था–नाटक की वस्तुयोजना में पाँच अर्थप्रकृतियों के साथ पाँच कार्यावस्थाओं पर भी विचार किया गया है। वस्तुत: अर्थप्रकृति और कार्यावस्था परस्पर सापेक्ष हैं। नाटक में मुख्य फल अर्थात् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जो कार्य किये जाते हैं उनकी विभिन्न स्थितियों को कार्यावस्था कहते हैं। कार्यावस्था के पाँच भेद माने गये हैं–आरम्भ, यत्न, प्रप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। फल-प्राप्ति के उद्देश्य से नाटक के आरम्भ में कार्य का प्रारम्भ दिखाया जाता है, फिर उसके लिए प्रयत्न का विस्तार किया जाता है। तदनन्तर फल की प्राप्ति की आशा जगती है जो क्रमश: फल-प्राप्ति के निश्चय में बदल जाती है और अन्तत: फल की प्राप्ति दिखायी जाती है। इस तरह भारतीय विचारकों ने नाटक के कार्यव्यापार के क्रमिक विकास पर विचार किया। सहसा उद्देश्य की सिद्धि दिखाने पर विश्वसनीयता नहीं आ पाती।

पाँच अर्थप्रकृतियों और पाँच कार्यावस्थाओं के मिलन बिन्दु को पाँच सन्धियों में बाँटा गया है। वे सन्धियाँ हैं–मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श या अवमर्श और निर्वहण। मुख सन्धि में बीज अर्थप्रकृति तथा आरम्भ कार्यावस्था की विशेषताएँ वर्तमान रहती हैं। अन्य अर्थप्रकृति और कार्यावस्था के मिलन-बिन्दु के रूप में सन्धियों के रूप को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है–

	अर्थप्रकृति	→	सन्धि	←	कार्यावस्था
	↓		↓		↓
1.	बीज	→	मुख	←	आरम्भ
2.	बिन्दु	→	प्रतिमुख	←	यत्न
3.	पताका	→	गर्भ	←	प्राप्त्याशा
4.	प्रकरी	→	विमर्श या अवमर्श	←	नियताप्ति
5.	कार्य	→	निर्वहण	←	फलागम

मुख संधि में बीज और आरम्भ का समावेश रहता है। उदाहरणार्थ 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक में प्रथम से द्वितीय अंक के उस स्थल तक, जहाँ सेना-प्रस्थान करती है, मुखसन्धि है। इसके बारह अंग माने गये हैं। प्रतिमुख सन्धि में कथानक 'दृष्ट' और 'नष्ट' की स्थिति में रहता है। कहीं नायक की शक्ति से वह अनुकूल होता है तो कहीं प्रतिनायक आदि की अवरोधक शक्ति से नष्ट होता-सा जान पड़ता है। 'अभिज्ञान शकुन्तलम् नाटक में तृतीय अंक तक यह सन्धि पायी जाती है। गर्भ सन्धि में नाटक का फल गर्भित अर्थात् अस्पष्ट या अनिश्चित हो जाता है। विमर्श में बीज का विस्तार तो हो जाता है पर फलप्राप्ति में अनेक विघ्न उपस्थित हो जाते हैं। निर्वहण सन्धि में सभी विघ्नों का नाश हो जाने से चमत्कारपूर्ण फलप्राप्ति होती है।

इस प्रकार नाटक के वस्तु-संगठन का जितना सूक्ष्म और व्यवस्थित विवेचन संस्कृत के आचार्यों ने किया है, वह सम्पूर्ण विश्व के नाट्य-विवेचन में दुर्लभ है। अरस्तू जैसे महान पाश्चात्य काव्यशास्त्री ने कथावस्तु को नाटक का प्रधान तत्त्व मानने पर भी उसके तीन स्थूल विकास-क्रम का उल्लेख कर ही संतोष कर लिया था। वह विकास-क्रम था—आरम्भ, विस्तार और चरम-परिणति। इस विकास-क्रम की तुलना में नाटक के वस्तु-विन्यास के सम्बन्ध में भारतीय आचार्यों के विचार अधिक वैज्ञानिक, गम्भीर और व्यवस्थित हैं। पण्डित विश्वनाथ ने कथा-वस्तु के विकास-क्रम को दृष्टि में रख कर उसे 'गो-पुच्छ-वत्' माना है। जैसे गाय की पूँछ पहले केश-पाश की अल्पता के कारण पतली, फिर बीच में केश-भार के कारण मोटी और अन्त में सिमट कर पुन: पतली हो जाती है, वैसे ही नाटक की कथा-वस्तु आरम्भ में बीज रूप में आने से सूक्ष्म, फिर विस्तृत और अन्तत: एक उद्दिष्ट प्रभाव में सिमट जाती है।

नाटक में भारतीय आचार्यों ने सर्वाधिक महत्त्व रस को दिया है, यद्यपि वस्तु और चरित्र की भी उपेक्षा नहीं की है। संस्कृत के अधिकांश नाटक (मुद्राराक्षस आदि कुछ को छोड़ कर) रस प्रधान ही हैं। नाट्यकर्म में रस का महत्त्व बताते हुए आचार्य भरत ने कहा था कि रस-रहित कोई नाट्य-कर्म प्रवर्तित नहीं होता–''नहि रसादृते कश्चिदर्थ:प्रवर्त्तते।'' पण्डित विश्वनाथ ने नाटक के लक्षण में यह उल्लेख किया है कि उसमें विभिन्न रसों का निरन्तर परिपाक होना चाहिए–''नाना रस निरन्तरम्''। उल्लेख्य है कि एकरसता नाटक या काव्य के अन्य रूपों के सौन्दर्य को म्लान कर देती है। जीवन के विभिन्न सुख-दु:खात्मक भावों की निरन्तर–एक के बाद दूसरे की–रसात्मक परिणति काव्य में होती रहे तो उसमें ताजगी बनी रहती है। नाटक में श्रृंगार या वीर रस की प्रधानता हो और अन्य सभी रस उसमें प्रसंगवश आते रहें, यह आवश्यक है। विश्वनाथ की मान्यता है कि नाटक में पाँच से अधिक और दश तक अङ्क हो सकते हैं। यह नाटक में काम्य तो हो सकता है, उसका आवश्यक लक्षण नहीं। नाटक में अश्लील दृश्यों का प्रदर्शन वर्जित माना गया है।

नाटक के मुख्य चरित्र के सम्बन्ध में विश्वनाथ ने यह धारणा व्यक्त की है कि उच्चकुलोत्पन्न, गुणवान, राजर्षि जैसे धीरोदात्त पात्र को ही नाटक का नायक बनाया जाना चाहिए। ध्यातव्य है कि भारतीय काव्य चिन्तकों की दृष्टि मूलतः आदर्शवादी रही है। उनकी मान्यता रही है कि उदात्त-चेता चरित्र ही नाटक के दर्शक को सत्प्रेरणा दे सकते हैं। नाटक ही नहीं, काव्य के सभी रूपों का उद्देश्य भावक को उन्नयन का सन्देश देकर जीवन और समाज को सुन्दरतर बनाना होता है। आचार्य मम्मट ने भी 'कान्तासम्मित सरस उपदेश' को काव्य का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन बताया है। नाट्याचार्य भरत ने 'लोकोपदेशजननम्' कह कर सत्प्रेरणा को नाट्य-कर्म का एक प्रयोजन माना था। अपने आदर्श चरित्र से ही नाटक का नायक दर्शक को उन्नयन का प्रच्छन्न संदेश दे सकता है। यहाँ कविराज विश्वनाथ के द्वारा प्रदत्त नाटक के लक्षण के प्रधान अंश को उन्हीं के शब्दों में उद्धृत किया जा रहा है–

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पंचसन्धि समन्वितम्।

× × × × × × ×

सुख-दुःख समुद्भूति नानारसनिरन्तरम्।

पंचाधिकादशपरास्तत्रांका परिकीर्तिताः।।

प्ररव्यातवंशो राजर्षिधीरोदात्तः प्रतापवान।

दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः।

एक एव भवेदंगी श्रृंगारो वीर एव वा।

अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः।।

संक्षेपतः, नाटक की कथावस्तु विख्यात—इतिहास-प्रसिद्ध या लोकमुख में प्रचलित—होनी चाहिए। वस्तु का गठन पाँच सन्धियों में (अर्थप्रकृति और कार्यावस्था को मिला कर) किया जाना चाहिए। उसमें सुख दुःखात्मक लोकानुभूति के व्यक्त रूप नाना प्रकार के रस का निरन्तर आविर्भाव-तिरोभाव होता रहे। पाँच से अधिक दश तक अङ्कों में नाटक विभक्त हो। नाटक का नायक (प्रमुख फल का भोक्ता) धीरोदात्त, कुलीन गुणवान, प्रतापी, राजर्षि आदि में से कोई एक हो। श्रृंगार या वीर रस की नाटक में प्रधानता होनी चाहिए, शेष सभी रस अंग-रूप में रह सकते हैं। निर्वहण संधि में, जहाँ नाटक के मुख्य फल की प्राप्ति होती है, अद्भुत कार्य का प्रदर्शन होना चाहिए। आशय यह कि नाटक की चरम परिणति चमत्कारपूर्ण होनी चाहिए। नाटक के इस लक्षण में भरत, धनंजय आदि नाट्याचार्यों के विचार का समाहार पाया जाता है।

२.६ रूपक के अन्य भेद :

रूपक के दश भेदों में नाटक के अतिरिक्त नौ और भेद स्वीकृत हैं। वे हैं–प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी अंक और ईहामृग। इनका संक्षिप्त परिचय ही यहाँ पर्याप्त होगा।

प्रकरण–प्रकरण की कथावस्तु कल्पित होती है। इसमें श्रृंगार रस की प्रधानता होती। नायिका सामान्या अर्थात् वेश्या होती है। इसमें पाँच से लेकर दश अंक होते हैं और वस्तु-संगठन मुख, प्रतिमुख आदि पाँच सन्धियों के अनुसार होता है।

भाण–भाण एकांकी नाट्य-रचना है। इसमें धूर्त पात्रों का चित्रण होता है। इसका नायक कलाविद् होता है। एक ही पात्र मंच पर वार्तालाप करता है। भाण प्रायः श्रृंगार-प्रधान होता है, पर कहीं-कभी वीर रस भी अंगी के रूप में उपलब्ध होता है।

प्रहसन–रूपक का यह भेद बहुत लोकप्रिय रहा है। यह एक अंक का रूपक होता है, जिसमें हास्य रस की प्रधानता होती है। इसकी कथा-वस्तु कल्पित होती है। इसमें पाखंडी, धूर्त, कामुक, मूर्ख पात्रों के हास्यास्पद

व्यवहार का चित्रण कर हल्के-फुल्के हास्य का सृजन किया जाता है। यह नाट्य-भेद आज के साहित्य में भी जनप्रिय है। गम्भीर नाटक के समान साहित्यिक मूल्य इसे भले ही नहीं दिया जाता हो पर इसकी लोकप्रियता असंदिग्ध है।

डिम–इसमें चार अंक होते हैं और चार संधियों का कथा-विन्यास होता है। इसमें विमर्श संधि का अभाव रहता है। इसकी कथावस्तु पौराणिक कथा पर आधृत होती है। इसका नायक धीरोद्धत होता है। इसमें शृंगार, हास्य आदि रसों का ही प्रधान रूप से समावेश रहता है।

व्यायोग—यह पौराणिक कथा पर आधृत एकांकी रूपक है। इसकी कथावस्तु में तीन ही संधियाँ होती हैं—मुख, प्रतिमुख और निर्वहण। गर्भ और विमर्श या अवमर्श संधियों का इसमें अभाव होता है। इसका नायक धीरोद्धत होता है। इसमें पुरुष पात्र ही अधिक होते हैं, नारी पात्रों का प्रायः अभाव रहता है।

समवकार–इस रूपक में दैत्य और दानव की पौराणिक कथा का विन्यास होता है। इसमें तीन अंक होते हैं। सन्धियाँ चार होती हैं, क्योंकि विमर्श सन्धि इसमें नहीं रहती। इसमें बारह पात्र होते हैं जो मुख्य चरित्र या नायक-जैसे होते हैं। ये पात्र धीरोदात्त और धीरोद्धत; दोनों प्रकार के होते हैं। इसमें वीर रस की प्रधानता होती है।

वीथी–यह शृंगार-प्रधान एकांकी रूपक है जिसका कथानक कल्पित होता है। इसका नायक धीरललित होता है।

अंक–यह पौराणिक कथा पर आधृत एकांकी रूपक है। इसका नायक साधारण पुरुष होता है।

ईहामृग–ईहामृग में चार अंक होते हैं। इसकी कथा मिश्रित (अर्थात् इतिहास-पुराण में प्रसिद्ध तथा कल्पना-प्रसूत कथाओं का मिश्रित रूप) होती है। गर्भ और विमर्श सन्धियों का इसमें अभाव रहता है, इसलिए मुख, प्रतिमुख और निर्वहण; ये तीन सन्धियाँ ही होती हैं। नायक धीरोद्धत होता है और शृंगार रस की प्रधानता होती है।

उपरूपक के अठारह प्रकार–विश्वनाथ कविराज ने 'साहित्यदर्पण' में उपरूपक के अठारह भेदों का उल्लेख इन शब्दों में किया है–

नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकम्।
प्रस्थानोल्लाप्य काव्यानि प्रेंखणं रासकं तथा॥
संलापकं श्रीगदितं शिल्पकं च विलासिका।
दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लीशो भाणिकेति च॥
अष्टादशप्राहुरुपरूपकाणि मनीषिणः।

इन उपरूपकों की रचना बहुत कम ही पायी जाती है। नाट्यरासक, रासक आदि की चर्चा अपभ्रंश भाषा में रासो काव्य-परम्परा के उद्गम स्रोत के रूप में ही विशेष रूप से की जाती है। अतः इन अठारह उपरूपकों के नाम का उल्लेख ही यहाँ पर्याप्त माना जाएगा। विद्वानों ने इन सब के लक्षण भी प्रस्तुत किये हैं, जो बुद्धिविलास के उदाहरण-मात्र हैं।

२.७ महाकाव्य का स्वरूप :

महाकाव्य छन्दबद्ध अर्थात् पद्य-बद्ध रचना का महत्त्वपूर्ण भेद है। इस काव्य-रूप की रचना सम्पूर्ण विश्व के साहित्य में प्राचीन काल से ही होती रही है। भारतीय साहित्य में आदि कवि वाल्मीकि की 'रामायण' को महाकाव्य का उत्कृष्ट उदाहरण माना जाता है। पाश्चात्य जगत में आज से ढाई हजार वर्ष पहले महाकवि होमर के

महाकाव्य अत्यन्त लोकप्रिय हो चुके थे। महाकाव्य के उत्कर्ष और काव्यात्मक मूल्य का एक कारण यह है कि इसमें उदात्तचरित पात्रों के जीवन की विभिन्न सुख-दुःखात्मक भावों का प्रभावोत्पादक चित्रण कर कवि पाठक को भावाभिभूत-रसमग्न-भी कर देता है और साथ ही जीवन में उन्नयन का प्रच्छन्न सन्देश भी दे सकता है। महाकाव्य की लोकप्रियता और कलात्मक महत्ता के कारण अनेक आचार्यों ने उसके लक्षण दिये हैं, जिनमें बहुत-सी बातें समान हैं।

आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' में महाकाव्य की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है—

1. महाकाव्य सर्गबन्ध रचना है। इसकी विस्तृत कथा अलग-अलग सर्गों में सन्धि आदि के नियमों के अनुसार सुसंगठित रहती है। मुख सन्धि में-अर्थात् आरम्भ में आशीर्वचन या प्रार्थना के साथ कथा-वस्तु का संक्षिप्त निर्देश किया जाता है।

2. इसकी कथावस्तु या तो इतिहास-प्रसिद्ध होती है या किसी सज्जन पुरुष के जीवन की सच्ची घटनाओं पर आश्रित होती है।

3. महाकाव्य में चारो पुरुषार्थों का—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का—समावेश रहता है और इसका नायक चतुर और धीरोदात्त प्रकृति का होता है।

4. इसमें नगर, सागर, पर्वत, चन्द्रोदय, सूर्योदय, उपवन, जलक्रीड़ा, मधुपान आदि के उत्सव का वर्णन होता है।

5. यह अलंकृत, विस्तृत और निरन्तर रस-भाव से समन्वित होता है।

6. इसके सर्ग बहुत विस्तृत नहीं हों, सुश्राव्य हों और संधियों से सुसम्बद्ध हों, यह वांछनीय है।

7. इसमें प्रसंगोद्भावना का गुण रहना चाहिए अर्थात् अनेक प्रकार की प्रासंगिक कथाओं का वर्णन होना चाहिए।

8. महाकाव्य लोकरंजक हो-सभी पाठकों या श्रोताओं के मन को आकृष्ट करने वाले गुणों से युक्त हो—यह आवश्यक है।

9. सुन्दर, अलंकृत महाकाव्य कालजयी होता है। (ध्यातव्य है कि अलंकृत होना काव्य का सर्वमान्य आवश्यक लक्षण नहीं। यह अलंकारवादी दण्डी कर निजी विचार है)।

आचार्य दण्डी के द्वारा प्रदत्त महाकाव्य के लक्षण के प्रमुख अंश, उन्हीं के शब्दों में, इस प्रकार हैं–

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्॥
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।
चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्तनायकम्॥
नगरार्णव शैलंतु चन्द्रार्कोदयवर्णनैः।
× × × × × × × × × × × ×
अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः।
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरंजकम्।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृतिः।

(काव्यादर्श, प्रथम परिच्छेद)

विश्वनाथ कविराज ने महाकाव्य के सम्बन्ध में आचार्य दण्डी के विचार को कुछ परिष्कार के साथ प्रस्तुत किया है। उनका महाकाव्य-लक्षण इस प्रकार है–

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।

सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणन्वितः।

एकवंशभवा भूपाः कुलजा वहवोऽपि वा।

श्रृंगारवीरशान्तानामेकोङ्गी रस इष्यते।

अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वेनाटकसन्धयः।

इतिहासोद्भवं वृत्तं अन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।

चत्वारः तस्य वर्गास्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।

आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।

क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्।

× × × × × × × × × × × ×

नातिस्वल्पाः नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह।

नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते।

सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।

× × × × × × × × × × × ×

प्राकृतैर्निर्मिते तस्मिन् सर्गा आश्वाससंज्ञकाः

छन्दसास्कन्धकेनैतत् क्वचिद्वागलितकैरपि॥

अपभ्रंशनिबद्धेऽस्मिन् सर्गा कुण्डवकाभिधाः।

तथाऽपभ्रंशयोग्यानि छन्दांसि विविधान्यपि॥

आचार्य दण्डी के महाकाव्य-लक्षण के साथ विश्वनाथ के इस लक्षण की तुलना करने पर यह स्पष्ट होता है कि दोनों महाकाव्य-लक्षणों में महाकाव्य की बाहरी रूप-रचना के सम्बन्ध में प्रायः मिलती-जुलती धारणा व्यक्त की गयी है। दोनों लक्षणों में कुछ अलग-अलग विचार उन आचार्यों की अलग-अलग काव्य-दृष्टियों के अनुरूप व्यक्त किये गये हैं। अलंकारवादी आचार्य दण्डी ने जहाँ महाकाव्य के अलंकृत होने पर विशेष बल दिया था, वहाँ रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य में रस को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है। पंडित विश्वनाथ के मतानुसार महाकाव्य की कथावस्तु का संघटन नाटक की कथावस्तु की तरह ही सन्धियों के अनुरूप होना चाहिए। (नाटक की संधियों पर विचार किया जा चुका है। छात्रों से अनुरोध है कि संधियों के उक्त रूप पर महाकाव्य के इस प्रसंग में भी विचार करें) विश्वनाथ ने प्राकृत, और अपभ्रंश के महाकाव्यों की विशेषताओं का भी समावेश अपने महाकाव्य-लक्षण में किया है। यह उनकी वैचारिक उदारता का परिचायक है। अपभ्रंश भाषा के महाकाव्य में कड़बक बन्ध का विकास हुआ जिसका प्रभाव आधुनिक काव्य पर भी देखा जाता है। विश्वनाथ के इस महाकाव्य-लक्षण में उनकी व्यापक दृष्टि का परिचय मिलता।

विश्वनाथ के परवर्ती विचारकों ने–अग्निपुराणकार, प्रतापरूद्रशोभूषण के लेखक विद्यानाथ आदि ने–उनके मतानुसार ही महाकाव्य के लक्षण का निरूपण किया है।

विश्वनाथ के द्वारा प्रतिपादित महाकाव्य के इस लक्षण में महाकाव्य के सात अंगों के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा व्यक्त की गयी है। वे अंग हैं–(1) कथावस्तु और उसका संगठन (2) चरित्र या नायक (3) रस, छन्द, (4) परिदृश्य, (5) नामकरण और (6) उद्देश्य।

1. **कथावस्तुः–**कविराज विश्वनाथ की मान्यता है कि महाकाव्य की कथा विस्तृत होती है जिसमें सम्पूर्ण जीवन की गाथा और उसका प्रभाव अंकित होता है। यह जीवन–गाथा नाटक की मुख, प्रतिमुख आदि पाँच सन्धियों के नियमानुरूप संघटित होना चाहिए। कथा–विस्तार को देखते हुए आठ से अधिक सर्गों में उसका सुसंगठित वर्णन होना चाहिए। कथा का आरम्भ मंगलाचरण–आशीर्वचन, ईशप्रार्थना आदि–से होना चाहिए। एक सर्ग के अन्त में आगामी सर्ग की कथा की सूचना दी जानी चाहिए। ऐसी सूचना पाठक के मन में कुतूहल जगाये रखने के लिए वांछनीय मानी गयी है। महाकाव्य की कथावस्तु इतिहास–प्रसिद्ध होनी चाहिए या किसी महापुरुष की वास्तविक जीवन–गाथा पर आश्रित हो सकती है।

२. चरित्र या नायकः–विश्वनाथ के मतानुसार महाकाव्य का नायक कोई दिव्य–चरित्र, उच्चकुलोत्पन्न क्षत्रिय, राजा आदि होना चाहिए जिसमें धीरोदात्त नायक के गुण हों। ऐसे उदात्तचेता नायक का व्यक्तित्व ही पाठक को सत्प्रेरणा दे सकता है। धीरोदात्त नायक आत्मप्रशंसा से दूर रहने वाला, क्षमाशील, अत्यन्त गंभीर; विशाल हृदय वाला, सभी परिस्थितियों में अविचल और दृढ़व्रती होता है। विश्वनाथ ने धीरोदात्त नायक का लक्षण इस प्रकार दिया है–

अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः।

स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः कथितः॥ (साहित्यदर्पण, 3/32)

३. रसः–विश्वनाथ ने रस को काव्य का व्यावर्तक तत्त्व माना है। महाकाव्य के वृहत् कलेबर में सभी रसों का होना आवश्यक माना गया है, किन्तु श्रृंगार, वीर और शान्त रसों में से किसी एक रस का अंगी और अन्य सभी रसों का अंग–रूप में वर्णन अपेक्षित माना गया है।

४. छन्दः–महाकाव्य के एक सर्ग में एक ही छन्द के प्रयोग का विधान किया गया है, जिससे कथा का निर्बाध विकास और रस–धारा का अबाध प्रवाह बना रहे। सर्ग के अन्त में छन्द बदलना चाहिए। यह आगे आने वाली कथा को ग्रहण करने के लिए मन को तैयार करने की भूमिका प्रस्तुत करता है। महाकाव्य के किसी–किसी सर्ग में चमत्कार प्रदर्शन के लिए अथवा अद्भुत रस की निष्पत्ति के लिए अनेक छन्दों का भी व्यवहार किया जाता है।

५. परिदृश्यः–महाकाव्य में जीवन की विविध स्थितियों और भावनाओं के चित्रण के क्रम में प्रकृति के विविध रूपों का चित्रण किया जाता है। इस क्रम में सांस्कृतिक महत्त्व के अनेक स्थानों का भी वर्णन किया जाता है। सज्जनों की प्रशंसा और दुर्जनों की निन्दा भी महाकाव्य के वर्ण्य–विषय होते हैं। ऐसी प्रशंसा और निन्दा सद्भावना के विकास में सहायक होती है।

६. नामकरणः–महाकाव्य का नामकरण नायक या कथा की मुख्य घटना के आधार पर किया जाता है।

७. उद्देश्यः–महाकाव्य का उद्देश्य चतुर्वर्ग की—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की—उपलब्धि को माना गया है। नायक परोपकार या लोकहित के महत् उद्देश्य से या विजय प्राप्त कर समृद्धि–ऐश्वर्य प्राप्त करने के उद्देश्य से युद्ध में प्रवृत्त होता है। महाकाव्य में नायक के जीवन के ऐसे संघर्षपूर्ण क्रिया–कलाप का चित्रण होता है जो युगपरिवर्तन या सांस्कृतिक विकास में मूल्यवान योगदान देता है।

इस विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रबन्धात्मक पद्यबद्ध रचना में भाव, विचार, चरित्र, उद्देश्य आदि का औदात्य होने पर ही उसका 'महाकाव्य' नाम सार्थक होता है।

२.८ खंड काव्य :

खण्डकाव्य भी महाकाव्य की तरह एक प्रबन्धात्मक काव्य-रूप है। इसमें एक कथा खंड का क्रमबद्ध चित्रण होता है। महाकाव्य की कथा-वस्तु से खंड काव्य की कथा का अन्तर इतना ही है कि जहाँ महाकाव्य में नायक के सम्पूर्ण जीवन की अथवा उसके जीवन की दूरव्यापी कथा का क्रमबद्ध चित्रण होता है वहाँ खंड काव्य में जीवन की एक-दो प्रधान घटनाओं का ही इस रूप में वर्णन किया जाता है कि उनसे सम्पूर्ण जीवन के प्रभाव की व्यंजना हो जाती है। शायद इसीलिए भारतीय आचार्यों ने महाकाव्य के लक्षण से पृथक् खंड काव्य का विस्तृत लक्षण-निरूपण करने की आवश्यकता नहीं समझी। महाकाव्य का लक्षण-निरूपण कर आचार्यों ने संक्षेप में केवल इतना निर्देश कर दिया है कि खंड-काव्य महाकाव्य का एक अंश या खंड होता है। पंडित विश्वनाथ ने कहा है–

''भाषा-विभाषा नियमात् काव्यं सर्गसमुज्झितम्।

एकार्थप्रवणैः पद्यैः सन्धि सामग्र्यवर्जितम्।

खण्डकाव्यं भवेत् काव्यस्यैकदेशानुसारि च॥''

उल्लेख्य है कि महाकाव्य के किसी एक सर्ग को अथवा उसके सर्गों में से कुछ को अलग निकाल कर खंड काव्य का उदाहरण नहीं माना जा सकता। जैसे नाटक के किसी एक अंक को एकांकी नाटक के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जाता, उसी तरह महाकाव्य के एक-दो सर्गों को खंड काव्य नहीं माना जाता। खंड-काव्य में जीवन की किसी छोटी घटना का वर्णन अवश्य होता है, पर उसमें ऐसा संग्रथन होता है कि जीवन के एक अखंड प्रभाव कर सृजन हो सके। 'मेघदूत' को खंड-काव्य का उदाहरण माना जाता है। उसमें महाकवि कालिदास की प्रतिभा ने एक अभिनव प्रयोग किया है। केवल कथा-प्रसंग का निर्देश कर नायक के भावोच्छ्वास की मार्मिक अभिव्यंजना 'मेघदूत' नामक खंड-काव्य की विशेषता है। कथा-खंड का निर्देश होने के कारण इसे खंड-काव्य के अन्तर्गत भी रखा जाता है और गहन भावोच्छ्वास की संगीतात्मक अभिव्यंजना के कारण इसे प्रबन्धात्मक गीति-काव्य भी माना जाता है। स्पष्ट है कि काव्य के भेदों के बीच भी कुछ अन्तःसम्बन्ध रहते हैं। एक से दूसरे को सर्वथा भिन्न सिद्ध करना कठिन तो है ही अनावश्यक भी है। काव्य का रूप-भेद व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से ही उपादेय है। सभी काव्य-भेदों में काव्यत्व का धर्म समान रूप से अनुस्यूत रहता है जो भेदों को भी एक सूत्र में पिरोता है।

२.९ मुक्तक काव्य :

मुक्तक काव्य ऐसी पद्यबद्ध रचना को कहते हैं, जिसका प्रत्येक पद्य स्वतंत्र और स्वतःपूर्ण होता है। कोई भी पद्य अपने अर्थ की पूर्णता के लिए किसी सन्दर्भ या अन्य पद की अपेक्षा नहीं रखता। तात्पर्य यह कि मुक्तक काव्य के पद्य स्फुट, निर्बन्ध और पूर्वापर-निरपेक्ष होते हैं। ध्वन्यालोक की 'लोचन' टीका में अभिनवगुप्त ने मुक्तक (काव्य) का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है–''मुक्तकमन्येनालिंगितं तस्य संज्ञायां कन्।'' इस कथन में मुक्तक 'शब्द की व्युत्पत्ति–मुक्त + कन् प्रत्यय – भी दिखायी गयी है और मुक्तक काव्य का लक्षण भी दिया गया है। आचार्य भामह ने अनिबद्ध काव्य-भेद के अन्तर्गत मुक्तक की गणना की है। प्रबन्धात्मकता के बन्धन से—कथाबन्ध से मुक्त काव्य उनकी दृष्टि में मुक्तक काव्य है।

वामन ने मुक्तक काव्य को प्रबन्ध काव्य की तुलना में हीन कोटि का काव्य मान लिया था। उनकी दृष्टि में, मुक्तक काव्य के पद्य परस्पर असम्बद्ध होने के कारण सौन्दर्य के छोटे-छोटे कण ही उत्पन्न कर सकते हैं, प्रबन्ध काव्य की तरह समन्वित समग्र सौन्दर्य-प्रभाव नहीं जगा सकते। सौन्दर्य के छोटे-छोटे कण को उन्होंने अग्नि के

स्फुलिंग की तरह ही माना है, जिनमें प्रकाश की पूर्ण शक्ति नहीं होती। उन्हीं के शब्दों में–

असंकलितरूपाणां काव्यानां नास्ति चारुता।

न प्रत्येकंप्रकाशन्ते तैजसाः परमाणवः ॥ (काव्यालं॰ सूत्रवृत्ति)

आनन्दवर्द्धन ने ध्वन्यालोक में वामन के इस विचार को अस्वीकार कर मुक्तक काव्य को भी पूर्ण गौरव प्रदान किया है। आनन्दवर्द्धन की मान्यता है कि प्रबन्ध काव्य की तरह मुक्तक काव्य में भी रसोद्बोध की पूर्ण क्षमता होती है। अमरुक कवि के मुक्तक काव्य का उदाहरण देकर उन्होंने कहा है कि अमरुक कवि के मुक्तक काव्य में रसकी ऐसी धारा प्रवाहित है कि उनके मुक्तक में प्रबन्ध काव्य-सा ही गौरव आ गया है:–''मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृंगाररसस्यंदिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव। (ध्वन्यालोक, 3/7 की वृत्ति)

अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की 'लोचन' टीका में आनन्दवर्द्धन के इस विचार का समर्थन करते हुए कहा कि मुक्तक काव्य के श्लोकों में पूर्वापर का क्रम नहीं होता, सभी स्वतंत्र और स्वतःपूर्ण होते हैं। सभी निरपेक्ष भाव से रसघनिष्ठ होते हैं। कुछ मुक्तक पद प्रबन्ध में रहकर भी अन्य-निरपेक्ष रूप से रसबोध कराने में समर्थ होते हैं–''तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्त निराकांक्षार्थमपि प्रबन्धमध्यवर्ती मुक्तकमित्युच्यते। ×××× पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदैव मुक्तकम्। (ध्वन्यालोक-लोचन)

इसी विचार का समर्थन अग्निपुराणकार ने इन शब्दों में किया हैं–

मुक्तकं श्लोकएकैकश्चमत्कारक्षमः सताम्। (अग्निपुराण)

इस प्रकार सन्दर्भ-मुक्त होना, पूर्वापर-क्रम रहित होना, स्वतःपूर्ण होना और रसघनिष्ठ होना मुक्तक काव्य का सर्वमान्य लक्षण है। मुक्तक काव्य आकार में छोटा अवश्य होता है, पर रसघनिष्ठ होने के कारण उसका महत्त्व महाकाव्य या खंडकाव्य जैसे प्रबन्धात्मक काव्य के समान ही होता है। आनन्दवर्द्धन आदि आचार्यों ने तो मुक्तक काव्य को 'प्रबन्धायमानः' कह कर प्रबन्ध काव्य के समान ही महत्त्वपूर्ण माना था, पर कुछ विद्वानों ने इससे भी आगे बढ़ कर अमरुक कवि के एक-एक मुक्तक पद को–'प्रबन्धशतायते' कह कर सौ-सौ प्रबन्धों के बराबर महत्त्वपूर्ण मान लिया है। ऐसे कथन को अतिरंजित ही माना जाएगा, क्योंकि कालिदास के किसी महाकाव्य से किसी मुक्तक पद को सौ गुना महत्त्व देने का कोई युक्तिपूर्ण आधार नहीं है। इतना अवश्य माना जा सकता है उक्ति यदि रसघनिष्ठ हो तो उसकी लघुता के आधार पर उसे कम महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए।

मुक्तक काव्य को प्रबन्ध काव्य के समान या उससे अधिक महत्त्वपूर्ण मानने वाली इस दृष्टि के प्रसंग में आधुनिक पाश्चात्य काव्य-दृष्टि के औचित्य को परखा जा सकता है। कविता के सन्दर्भ में नये आलोचकों का मत है कि छोटी कविता ही सच्चे अर्थ में कविता होती है, क्योंकि उसी में सघन मनोभावों की मार्मिक अभिव्यंजना हो सकती है। बड़ी कविता, लम्बी कविता जैसे कथन में वदतोव्याघात होता है, क्योंकि जो बड़ी या लम्बी है, वह कविता हो ही नहीं सकती, क्योंकि उसमें भावों की सघनता का निर्वाह नहीं हो पाता। इस विचार के सन्दर्भ में भारतीय काव्य-दृष्टि की व्यापकता को समझा जा सकता है। मुक्तक काव्य को 'प्रबन्धायमान' कह कर—मुक्तक काव्य को प्रबन्धकाव्य के समान कह कर—मुक्तक काव्य के महत्त्व को तो स्वीकार किया ही गया है, प्रबन्ध काव्य के महत्त्व की भी प्रतिष्ठा की गयी है। उपमान का महत्त्व उपमेय से कम नहीं होता, केवल व्यतिरेक दिखाने में उपमेय को अधिक महत्त्व दे दिया जाता है। नयी कविता या नयी-आलोचना-दृष्टि संकुचित है, जबकि भारतीय आचार्यों की दृष्टि अधिक व्यापक। काव्य का मूल्य उसके आकार की लघुता-दीर्घता के आधार पर नहीं, उसमें व्यक्त भाव-विचार की मार्मिकता के आधार पर ही निर्धारित किया जाना चाहिए। रसघनिष्ठ मुक्तक काव्य के महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

२.१० आख्यायिका :

गद्य काव्य के भेदों में आख्यायिका और कथा; ये दो प्रमुख भेद हैं। ध्यातव्य है कि काव्य के जो लक्षण दिये गये हैं, वे गद्य काव्य और पद्यबद्ध काव्य; दोनों में समान रूप से घटित होते हैं। गद्य काव्य में छन्द का अभाव रहता है जबकि पद्य काव्य छन्द-बद्ध होता है।

आचार्य रुद्रट ने बड़े विस्तार से आख्यायिका का सांगोपांग विवरण दिया है। उन्हीं के शब्दों में–

पूर्ववदेव नमस्कृतदेवगुरुर्नोत्सहेत् स्थितेष्वेषु।

× × × ×

अथ तेन कथैव यथा रचनीयाख्यायिकापि गद्येन।
निजवंशं स्वं चास्यामभिदध्यान्न त्वगद्येन॥
कुर्यादत्रोच्छ्वासान्सर्गवदेषां मुखेष्वनाद्यानाम्।
द्वे द्वे चार्ये श्लिष्टे सामान्यार्थे तदर्थाय॥
संशयाशंसावसरे भवतो भूतस्य वा परोक्षस्य।
अर्थस्य भाविनस्तु प्रत्यक्षस्यापि निश्चितये॥

× × × ×

अन्योक्तिसमासोक्तिश्लेषाणामेकमुभयं वा।
तत्रच्छन्दः कुर्यादार्यापरवक्त्र पुष्पिताग्राणाम्।

सारांश यह है कि आख्यायिका के आरम्भ में देवता तथा गुरुजनों को नमस्कार कर कवियों की प्रशंसा की जानी चाहिए। इसके बाद राजा के प्रति भक्ति के उद्गार व्यक्त कर दूसरों के गुणों का वर्णन किया जाना चाहिए। आख्यायिका में सर्ग की जगह उच्छ्वास का प्रयोग किया जाना चाहिए। इसके सभी उच्छ्वासों में प्रस्तुत अर्थ की सूचना देने के लिए श्लेषयुक्त दो-दो आर्या छन्दों का प्रयोग करना चाहिए। आख्यायिका की रचना गद्य में होती है, इसलिए कवि को अपने वंश का परिचय भी गद्य में ही देना चाहिए। किसी संशय के उपस्थित होने पर उसे दूर करने के लिए प्रसंगानुकूल अन्योक्ति, श्लेष या समासोक्ति अलंकारों से युक्त एक-दो पद्यों का भी उल्लेख होना चाहिए। इसमें आर्या, अपरवक्त्र, या पुष्पिताग्रा छन्द का भी प्रयोग किया जा सकता है, पर अधिकतर मालिनी छन्द का ही प्रयोग होना चाहिए।

स्पष्ट है कि रुद्रट के इस विचार में आख्यायिका के आवश्यक लक्षण की अपेक्षा कवि-शिक्षा ही अधिक है।

विश्वनाथ कविराज की मान्यता है कि कथा और आख्यायिका की रूप-रचना प्राय: एक सी होती है। उनके मतानुसार यह आवश्यक नहीं कि नायक के मुख से ही प्रथमपुरुष की शैली में, घटना-क्रम का वर्णन कराया जाय। अन्य पात्रों के मुख से भी कथा का वर्णन हो सकता है। आख्यायिका में कवि के वंश का परिचय तथा अन्य कवियों का परिचय भी दिया जाता है। इसमें कहीं-कहीं पद्य का भी व्यवहार होता है। कथा-भाग का नाम आश्वास अर्थात् उच्छ्वास होता है। आगे आने वाली कथा की सूचना आर्या, वक्त्र या अपरवक्त्र छन्द में दी जाती है। ऐसी सूचना अन्योक्ति के सहारे, उच्छ्वास के आरम्भ में ही दे दी जाती है। पण्डित विश्वनाथ के ही शब्दों में–

आख्यायिका कथावत् स्यात्कवेर्वंशानुकीर्तनम्।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित्क्वचित्॥

कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते ।
आर्या वक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित् ॥
अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम् ।

'आख्यायिका नायकेनैव निबद्धव्या' इत्याहुः, तदयुक्तम् । आख्यानादयश्च कथाख्यायिकयोरेवान्तर्भावान्न पृथगुक्ताः ।'' (साहित्यदर्पण, ६, ३३४-३६)

अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग में पूर्वाचार्यों के उक्त विचार को ही प्रस्तुत किया गया है । ध्यातव्य है कि संस्कृत साहित्य-परम्परा में पद्य काव्य का ही बाहुल्य रहा है फिर भी कादम्बरी, हर्षचरित, शिवराज विजय आदि गद्यकाव्य में भाषा प्रयोग का जो सौन्दर्य उपलब्ध होता है, वह सम्पूर्ण विश्व-साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है । छन्द की लय गति पद्य की भाषा को तो सहज ही रमणीय बना देती है, पर गद्य को लयात्मक और आकर्षक बनाने के लिए कवि के भाषा-प्रयोग-कौशल की अपेक्षा होती है । इसी तथ्य को दृष्टि में रख कर गद्य को कवियों की कसौटी कहा गया होगा–"गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति ।"

संस्कृत साहित्य में पद्य काव्य की बहुलता होने के कारण पद्य काव्य के भेदों और उपभेदों का स्वरूप विवेचन जितने विस्तार के साथ किया गया है, उसकी तुलना में गद्य काव्य के भेदोपभेदों का निरूपण संक्षेप में ही किया गया है । गद्य काव्य के भेदों में से आख्यायिका और कथा के स्वरूप का विवेचन अपेक्षाकृत विस्तार से किया गया है । कथा का विषय काल्पनिक होता है, जबकि आख्यायिका का विषय यथार्थ घटनाओं पर आधृत होता है । ध्यातव्य है कि आख्यायिका काव्य का एक भेद है, इसलिए उसमें कवि की उद्भावना-शक्ति अर्थात् प्रतिभा को उद्दिष्ट प्रभाव के सृजन के लिए, कुछ नवीन घटनाओं की कल्पना करने, घटना-क्रम को नये ढ़ंग से सजाने-सँवारने की पूरी छूट रहती है । मार्मिक प्रसंगों में मग्न होकर आख्यायिका का लेखक कथा-प्रवाह को रोक कर भावना का विस्तृत चित्रण करता है । अत: आख्यायिका की कथावस्तु का मूल तो यथार्थ घटनाओं में रहता है, पर उसमें कवि की कल्पना का भी अपेक्षित योगदान रहता है । संस्कृत साहित्य में आख्यायिका का उत्कृष्ट रूप 'हर्षचरित' में देखा जा सकता है । 'शिवराज विजय' आदि भी आख्यायिका के उदाहरण हैं ।

आचार्य भामह ने आख्यायिका का लक्षण-निरूपण इस प्रकार किया है–

संस्कृतानाकुलश्रव्य शब्दार्थपदवृत्तिना ।
गद्येन युक्तोदात्तार्था सोच्छ्वासाख्यायिका मता ॥
वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम् ।
वक्त्रं चापरवक्त्रं च काले भाव्यर्थशंसि च ॥
कवेरभिप्रायकृतैः कथनैः कैश्चिदंकिता ।
कन्याहरणसंग्रामविप्रलंभो दयान्विता ॥

(काव्यालंकार, 1, 25-27)

अर्थात्, आख्यायिका ऐसी गद्य-बद्ध रचना है, जिसके शब्द, अर्थ और समास सरल तथा श्रुति-मधुर हों । आख्यायिका का विषय उदात्त हो और उसका विभाजन उच्छ्वासों में किया जाय । इसमें घटना का वर्णन नायक के मुख से ही कराया जाता है अर्थात् इसमें कथा-वृत्तान्त का वर्णन प्रथमपुरुष की शैली में किया जाता है । इमसें भावी घटनाओं की सूचना के लिए कहीं-कहीं वक्त्र या अपरवक्त्र छन्द का भी प्रयोग किया जाता है । इसमें कवि के किसी विशेष अभिप्राय से युक्त कथन के चिह्न भी प्राप्त होते हैं । इसमें कन्याहरण, युद्ध, विप्रलम्भ-शृंगार, नायक के अभ्युदय आदि का वर्णन होता है ।

स्पष्ट है कि आचार्य भामह ने भाषा, शिल्प तथा वर्ण्यविषय की दृष्टि से आख्यायिका के स्वरूप का सूक्ष्म विवरण दिया है। उन्होंने आख्यायिका और कथा को गद्य काव्य के दो स्वतंत्र भेद माने हैं। आचार्य दण्डी की मान्यता है कि कथा और आख्यायिका में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। अत: उन्हें गद्य काव्य के दो अलग-अलग रूप मानने का कोई औचित्य नहीं है। कहा गया है–

कर्तृवंशप्रशंसा स्याद् यत्र गद्येन विस्तरात्।
कन्याहरण-संग्राम-विप्रलम्भ विपत्तय: ।।
भवन्ति यत्र दीप्ताश्च रीतिवृत्तिप्रवृत्तय: ।
उच्छ्वासैकपरिच्छेदो यत्र या चूर्णकोत्तरा।
वक्त्रं चापरवक्त्रं वा यत्र साऽख्यायिका स्मृता ।।

अर्थात्, जहाँ गद्य में कवि-वंश की प्रशंसा के साथ कन्या-हरण, युद्ध, विप्रलम्भ शृंगार, विपत्ति का विस्तृत वर्णन हो, जहाँ रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति की सम्यक् योजना हो, जिसका उच्छ्वासों में विभाजन हो, जिसमें वर्णन चूर्णक (अजटिल) गद्य में हो, जहाँ वक्त्र या अपरवक्त्र छन्द का प्रयोग हो, उसे आख्यायिका कहते हैं। इस आख्यायिका-लक्षण में प्राय: सभी आचार्यों के आख्यायिका-सम्बन्धी विचार का समाहार पाया जाता है। आख्यायिका को कथा से स्वतन्त्र पहचान दिलाने वाला तत्त्व है—आख्यायिका की कथावस्तु का सच्ची घटना पर आधृत होना और इसके पात्रों का जीवन के यथार्थ से जुड़ा होना।

२.११ कथा :

कथा और आख्यायिका की रूप-रचना को प्राय: समान मानते हुए आचार्यों ने दोनों के इस भेद का उल्लेख किया है कि कथा का घटनाक्रम, देश-काल-वातावरण, और चरित्र, सभी कल्पित होते हैं, जबकि आख्यायिका में इन सब का सम्बन्ध यथार्थ जीवन से होता है।

कथा के आरम्भ में कथाकार कुछ श्लोकों में अपने वंश का संक्षिप्त परिचय देता है। कथा में परिच्छेद नहीं होते। मुख्य उद्देश्य की सिद्धि के लिए इसमें प्रमुख कथानक के साथ कुछ अन्य कथानक आ सकते हैं। मुख्य कथा-सूत्र को अग्रसर करने वाला और अन्त में कथा को समेटने वाला लम्बक होता है। हेमचन्द्र ने कथा के स्वरूप के सम्बन्ध में कहा है कि धीरप्रशान्त नायक का वर्णन करने वाली गद्य-रचना (कुछ पद्यबद्ध रचना भी) कथा होती है–"धीरशान्तनायका गद्येन पद्येन वा सर्वभाषा कथा।" (काव्यानुशासन, 8, 8)। गद्यबद्ध कथा का उत्कृष्ट उदाहरण बाणभट्टकृत 'कादम्बरी' है। कुछ कथाएँ पद्यबद्ध भी होती है। 'लीलावती' पद्यबद्ध कथा का उदाहरण है। काव्यानुशासन के उपरि उद्धृत कथन की टीका में कथा के ग्यारह भेद गिनाये गये हैं, जो इस प्रकार हैं–उपाख्यान, आख्यानक, निदर्शन, प्रवह्लिका, मन्थल्लिका, मणिकुल्या, परिकथा, खण्डकथा, एकलकथा, उपकथा और वृहत्कथा। इनका संक्षिप्त परिचय कथा के विवेचन के उपरान्त दिया जायगा।

कथा के स्वरूप के सम्बन्ध में संस्कृत साहित्य के आचार्यों में मतैक्य नहीं है। इतना तो सभी मानते हैं कि कथा कल्पित घटनाओं पर आधृत होती है, जबकि आख्यायिका यथार्थ घटनाओं पर। कथा अन्य पुरुष की शैली में कथाकार के द्वारा वर्णित होती है, जबकि आख्यायिका के नायक या अन्य पात्रों के मुख से घटनाओं का वर्णन कराया जाता है। कथा में परिच्छेद नहीं होते, जबकि आख्यायिका का परिच्छेदों में विभाजन होता है। वस्तु और शिल्प में इस अन्तर के होने पर भी कुछ आचार्यों ने कथा और आख्यायिका में तात्त्विक अभेद मान लिया है। कथा और आख्यायिका; दोनों गद्य काव्य के भेद हैं, पर हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में पद्यबद्ध 'लीलावती' काव्य को कथा का रूप मान लिया है। यह मत सर्वमान्य नहीं हो सकता। प्रबन्धात्मक काव्य-रूपों में—महाकाव्य, खण्ड काव्य

आदि में—कथावस्तु तो रहती है। यदि समस्त कथात्मक काव्य को 'कथा' मान लिया जाय तो खण्ड काव्य आदि से 'कथा' की स्वतन्त्र पहचान कैसे हो सकेगी ?

आचार्य भामह ने कथा के स्वरूप के सम्बन्ध में कहा था कि जिस रचना का उच्छ्वास में विभाजन नहीं हो, जिसमें वक्त्र अपरवक्त्र छन्द का प्रयोग नहीं हो और जिसमें नायक स्वयं अपनी कथा नहीं सुनाता हो उसे कथा कहते हैं–

न वक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्ता नोच्छ्वासवत्यपि।
संस्कृतासंस्कृता चेष्टा कथाऽपभ्रंशभाक् तथा॥
अन्यैः स्वचरितं तस्यां नायकेन तु नोच्यते।
स्वगुणाविष्कृतिं कुर्यादभिजातः कथं जनः॥

स्पष्ट है कि भामह ने कथा का आख्यायिका से भेद बताने वाले तत्त्वों का ही उल्लेख कथा के इस लक्षण में किया है।

आचार्य दण्डी कथा और आख्यायिका में तात्त्विक भेद नहीं मानते। उनका तर्क है कि आख्यायिका में यदि वक्त्र, अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग होता है और कथा में उनका प्रयोग नहीं होता तो इस आधार पर दोनों में भेद मानना उचित नहीं, क्योंकि कथा में आर्या छन्द का प्रयोग तो होता ही है। आचार्य दण्डी का दूसरा तर्क है कि कथा में उच्छ्वास का अभाव भी उच्छ्वासों में विभक्त आख्यायिका से उसका भेद नहीं करता, क्योंकि कथा में उच्छ्वास भले ही नहीं हों, पर लम्बक तो रहते ही हैं। तीसरी बात यह है कि कथा में अन्य पुरुष की शैली में कथाकार ही कथा कहता है जबकि आख्यायिका में नायक प्रथम पुरुष की शैली में अपनी कथा स्वयं सुनाता है। इसे दण्डी दोनों का भेदक नहीं मानते, क्योंकि आख्यायिका में भी कहीं-कहीं अन्य पुरुष की शैली में घटना का वर्णन किया जाता है। आचार्य दण्डी की दृष्टि में कथा और आख्यायिका; दोनों तत्त्वतः अभिन्न हैं। कन्याहरण, युद्ध आदि भी कथा का विभाजक नहीं, क्योंकि ये महाकाव्य के भी विषय हैं।

आचार्य दण्डी का यह विचार आग्रहपूर्ण जान पड़ता है। भेदीकरण कुछ समान और कुछ भेदक धर्मों को दृष्टि में रख कर ही किया जाता है। काव्यत्व समान रूप से सभी काव्य-भेदों में रहता है, पर इससे काव्य-रूपों का अलग-अलग वर्गों में विभाजन व्यर्थ नहीं हो जाता। विश्लेषण की व्यावहारिक सुविधा के लिए वर्गीकरण की उपयोगिता होती है।

रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने कथा के लक्षण में रस पर विशेष बल देते हुए कहा है–

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्।
क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापक्त्रके॥
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम्।

(साहित्यदर्पण, 6, 332-33)

अर्थात् कथा में सरस कथावस्तु की रचना गद्य में ही होती है। इसमें कहीं आर्या छन्द का और कहीं-कहीं वक्त्र और अपवक्त्र छंदों का प्रयोग किया जाता है। आरम्भ में प्रार्थना और दुष्ट चरित्र का वर्णन पद्यबद्ध किया जाता है। कादम्बरी आदि इसके उदाहरण हैं। परवर्ती आचार्यों ने पण्डित विश्वनाथ की इस कथा-परिभाषा को यत्किंचित् शब्द-भेद से प्रस्तुत किया है।

२.१२ कथा के भेद :

हेमचन्द्र ने 'काव्यनुशासन' में कथा के निम्नलिखित ग्यारह भेदों का उल्लेख किया है–1. उपाख्यान 2. आख्यानक 3. निदर्शन 4. प्रवह्लिका 5. मन्थल्लिका 6. मणिकुल्या 7. परिकथा 8. खण्डकथा 9. सकलकथा 10. उपकथा और 11. वृहत्कथा।

उपाख्यान–कथा-प्रबन्ध के बीच दूसरों को समझने के लिए किसी कहानी का उल्लेख किया जाता है, उसे उपाख्यान कहते हैं। वेदों में जो उपाख्यान आये हैं, उन्हें आधुनिक कहानियों का मूलस्रोत माना जाता है। उदाहरणार्थ नल, सावित्री, हरिश्चन्द्र आदि के उपाख्यान।

आख्यानक–दूसरे लोगों के प्रबोध के लिए सभा में ज्योतिषी आदि के द्वारा पढ़े जाने, गाये जाने या अभिनय किये जाने वाली कथा को आख्यानक कहा जाता है। गोविन्दाख्यान आदि इसके उदाहरण हैं।

निदर्शन–पशु-पक्षी आदि के कार्य व्यापार से कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्देश करने वाली गद्य-रचना को निदर्शन कहते हैं। पंचतन्त्र आदि की कथा को इस वर्ग में रखा गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आधुनिक कथा-साहित्य के विकास में पंचतंत्र, जातककथा आदि का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

प्रवहि्लका–इसकी रचना प्राकृत आदि भाषाओं में की जाती है। इसमें प्रधान कथा से सम्बद्ध पात्रों के विवाद आदि का वर्णन होता है। चेटक आदि इसके उदाहरण हैं। यह प्रधान कथा में सहायक मात्र है।

मन्थल्लिका–यह महाराष्ट्री-प्राकृत तथा भूत-भाषा में क्षुद्र कथा का वर्णन करने वाला कथा-रूप है। इसमें अमात्य, पुरोहित, तपस्वी आदि का उपहास किया जाता है। 'गोरोचन', अनंगवती आदि इसके उदाहरण हैं।

मणिकुल्या–यह ऐसा कथा-रूप है, जिसमें कथा-वस्तु का प्रकाशन अन्त में होता है, जैसे 'मत्स्यहसित' आदि।

परिकथा–इसमें चार पुरुषार्थों में से किसी एक को लक्ष्य कर विचित्र वृत्तान्तों का वर्णन होता है, जैसे शूद्रकादि।

खण्डकथा–इसमें प्रसिद्ध वृत्तान्त के बीच से या अन्त से कोई खंड लेकर उसका वर्णन किया जाता है, जैसे इन्दुमती आदि।

सकलकथा–इसमें आरम्भ से फलप्राप्ति तक पूरे वृत्तान्त का क्रमबद्ध वर्णन होता है। 'समरादित्य' आदि इसके उदाहरण हैं।

उपकथा–जहाँ किसी चरित के अंग का आश्रय लेकर किसी दूसरी विचित्र कथा का वर्णन किया जाता है, उसे उपकथा कहते हैं। इस तरह एक प्रधान कथा से जुड़ी हुई दूसरी कथाएँ फूटती रहती हैं। पंचतन्त्र आदि में प्रधान कथा के अंग के रूप में विकसित उपकथा के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

बृहत्कथा–पैशाची प्राकृत या अपभ्रंश भाषा में उपलब्ध महत्त्वपूर्ण विस्तृत कथा जिसमें अद्‌भुत कार्य की सिद्धि का वर्णन किया जाता है, बृहत्कथा नाम से कथा के एक भेद के रूप में प्रसिद्ध है। 'नरवाहनदत्त' आदि इसके उदाहरण हैं।

इन ग्यारह भेदों में से उपाख्यान, आख्यानक, निदर्शन, प्रवहि्लका, खण्डकथा तथा उपकथा किसी प्रधान कथा में सहायक बन कर आते हैं। अतः इन्हें कथा-भेद मानने में मतभेद है।

अम्बिकादत्त व्यास ने 'गद्य काव्य मीमांसा' में गद्य काव्य के निम्नलिखित नौ भेद माने हैं। उन्हीं के शब्दों में–

"कथा कथानिका चैव कथनालापको तथा।
आख्यानाख्यायिके खण्डकथा परिकथाऽपि च ॥
संकीर्णमिति विज्ञेयो उपन्यासभिदा नव ॥"

२.१३ चम्पू काव्य :

पद्य-काव्य—छन्द-बद्ध काव्य—और गद्य-काव्य अर्थात् छन्द के नियम से मुक्त काव्य के मिश्रित रूप को चम्पू काव्य कहते हैं। पण्डित विश्वनाथ ने चम्पू के लक्षण में कहा है–

गद्य-गद्यमयं मिश्रं चम्पूरित्यभिधीयते। (साहित्यदर्पण, 6, 336)

आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' में यह स्पष्ट कर दिया था कि नाटक आदि दृश्य काव्य में गद्य और पद्य; दोनों

का प्रयोग होता है, पर उन्हें चम्पू काव्य मानने का भ्रम नहीं होना चाहिए। चम्पू श्रव्य काव्य का एक स्वतन्त्र रूप है, जिसमें गद्य और पद्य; दोनों का प्रयोग होता है–

मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्र विस्तरः।

गद्य-पद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यभिधीयते॥ (काव्यादर्श, 1, 31)

हेमचन्द्र ने चम्पू के इस लक्षण में इतना और जोड़ दिया है कि चम्पू गद्य, पद्य की मिश्रित रचना तो है ही, उसका अंकों या उच्छ्वासों में विभाजन भी अनिवार्यतः होता है–

गद्य-पद्यमयी सांका सोच्छ्वासाचम्पूः। (काव्यानुशासन, 8, 9)

चम्पू का नायक, देवता, गन्धर्व, मानव, पशु-पक्षी भी हो सकता है। चम्पू में अनेक नायक भी हो सकते हैं। इसमें नायिका का होना आवश्यक नहीं। चम्पू के नायक में वे ही गुण अपेक्षित होते हैं जो अन्य काव्य-रूपों के नायक में अपेक्षित होते हैं। इसमें शृंगार, वीर या शांत रस अंगी होता। अन्य सभी रस अंग के रूप में आ सकते हैं। त्रिविक्रम भट्ट कृत 'नलचम्पू' चम्पूकाव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। उल्लेख्य है कि संस्कृत में चम्पू काव्य की रचना का जो आदर्श प्रस्तुत किया गया, उसकी परम्परा आधुनिक भारतीय भाषाओं के काव्य में भी उपलब्ध होती है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त-रचित 'यशोधरा' हिन्दी साहित्य में चम्पूकाव्य का सुन्दर उदाहरण है।

2·14 सारांश :

संस्कृत काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने काव्य के विविध रूपों के भेदोपभेदों का अत्यन्त सूक्ष्म और गम्भीर विवेचन किया है। यही कारण है कि आज भी काव्य-भेद के सम्बन्ध में उनके विचार प्रासंगिक माने जाते हैं। काव्य के रूपगत भेदों के वर्गीकरण के अनेक आधार रहे हैं। **रूपविधान** के आधार पर दृश्य और श्रव्य काव्य के रूपक या नाट्य, महाकाव्य, खंडकाव्य, मुक्तक, काव्य, आख्यायिका, कथा आदि भेद माने गये हैं। **छन्द** के भाव अभाव के आधार पर पद्यकाव्य और गद्यकाव्य; तथा गद्य-पद्य के मिश्रित प्रयोग वाले चम्पू काव्य; ये तीन भेद माने गये हैं। **विषय** के आधार पर ख्यातवृत्त, कल्पित, शास्त्राश्रित आदि भेद किये गये हैं। इस प्रकार भाषा-शैली, छन्द, विषय, रूप-विधान आदि के आधार पर काव्य के अनेक भेद कल्पित हुए। इनमें से सर्वमान्य काव्य-भेद निम्नलिखित हैं–दृश्यकाव्य और श्रव्य काव्य। **दृश्य;** काव्य के अन्तर्गत रूपक के नाटक, प्रकरण, भाण आदि दस भेदों तथा उपरूपक के अन्तर्गत नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी आदि अठारह दोनों की गणना की गयी है। रूपक के दस भेदों में नाटक सबसे महत्त्वपूर्ण कलात्मक रचना है। कुछ काव्यसमीक्षकों ने तो यहाँ तक मान लिया है कि काव्य की सभी विधाओं में नाटक श्रेष्ठ काव्य-रूप है–'काव्येषु नाटकं रम्यम्'।

श्रव्य काव्य के मुख्य दो भेद हैं—गद्य-काव्य और पद्य-काव्य। गद्यकाव्य को कवियों की कसौटी माना गया है–"गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति"। आख्यायिका और कथा गद्य काव्य के प्रधान रूप हैं। आख्यायिका की कथावस्तु सच्ची घटनाओं पर आधृत होती है। इसके पात्र भी यथार्थ जीवन से सम्बद्ध होते हैं। धातव्य है कि इस काव्य-रूप में वस्तु-योजना और चरित्र-निर्माण में कवि-कल्पना का योग रहता है, पर आधारभूत सामग्री वास्तविक जीवन से ली जाती है। 'हर्षचरित' आख्यायिका का सुन्दर उदाहरण है। 'कथा' की घटनाएँ, उसके चरित्र, देश-काल, वातावरण आदि सभी कल्पित होते हैं। कवि-कल्पना-प्रसूत घटना-चक्र को कथाकार कौशल से इस रूप में चित्रित करता है कि सत्य-सा प्रतीत होने लगता है। बाणभट्ट रचित 'कादम्बरी' कथा का उत्कृष्ट उदाहरण है। कथा के अनेक उपभेद—उपाख्यान, आख्यानक, परिकथा, बृहत्कथा आदि-माने गये हैं।

पद्य काव्य के मुख्य दो भेद हैं—प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य। प्रबन्धात्मक पद्य-काव्य में कथा की एक धारा आरम्भ से अन्त तक चलती है। उसमें वर्णित सभी घटनाएँ, चरित्र आदि कथा-सूत्र में बँधे होते हैं। प्रबन्धात्मक काव्य के पुनः दो रूप माने गये हैं–महाकाव्य और खण्ड काव्य। महाकाव्य में नायक के सम्पूर्ण जीवन की अथवा दूरव्यापी कथा का सुसंगठित वर्णन किया जाता है, जबकि खण्ड-काव्य में जीवन के किसी महत्त्वपूर्ण खण्ड का

ऐसा वर्णन होता है कि एक पूर्ण प्रभाव का सृजन हो जाय। महाकाव्य में उदात्तचरित नायक के जीवन का चित्रण कर कवि जीवन और समाज को सत्प्रेरणा दे सकता है। यही कारण है कि दृश्य काव्य के रूपों में जितना महत्त्व नाटक को दिया जाता है उतना ही महत्त्व श्रव्य-काव्य के गरिमामंडित भेद, महाकाव्य को दिया जाता है। खण्ड काव्य का महाकाव्य से भेद यह कह कर किया गया है कि यह महाकाव्य का ही 'एकदेशी' (एक खण्ड) है। कालिदास के रघुवंश को महाकाव्य का और मेघदूत को खण्डकाव्य का उदाहरण माना जाता है।

मुक्तक काव्य किसी भी कथा-सन्दर्भ से मुक्त होता है। किसी कल्पित सन्दर्भ में हृदय के भावोच्छ्वास की मार्मिक अभिव्यंजना मुक्तक काव्य की विशेषता है। अमरुक कवि की मुक्तक-रचना के भाव-सौन्दर्य पर रीझ कर ही किसी आलोचक ने कहा था कि अमरुक का एक-एक पद सौ-सौ प्रबन्धों के बराबर है-'प्रबन्धशतायते'।

किसी काव्य-रूप को निरपेक्ष रूप में न तो श्रेष्ठ माना जाना चाहिए, न हेय। कवि की प्रतिभा काव्य के किसी रूप को जितना रमणीय, सरस और प्रभावोत्पादक बना पाती है वह उतना ही मूल्यवान बन जाता है।

उपरि विवेचित काव्य-भेद रूपगत हैं। ध्वनि-प्रस्थान के स्थापक आनन्दवर्द्धन ने काव्य के उत्कर्ष-अपकर्ष के आधार पर उसके कोटि-भेद किये हैं। उन पर आगे एक स्वतन्त्र पाठ में विचार किया जायगा।

2·15 अभ्यास के प्रश्न :

1. काव्य के रूप-गत प्रमुख भेदों का परिचय दीजिए।
2. नाटक के लक्षण का विवेचन कीजिए।
3. रूपक किसे कहते हैं? रूपक के कितने भेद हैं? स्पष्ट कीजिए।
4. दृश्य काव्य के भेदोपभेदों का परिचय दीजिए।
5. महाकाव्य का लक्षण-निरूपण कीजिए।
6. मुक्तक काव्य के स्वरूप का विवेचन कीजिए।
7. गद्य काव्य के कितने भेद हैं? प्रमुख भेदों का परिचय दीजिए।
8. कथा और आख्यायिका का भेद स्पष्ट कीजिए। (काव्यालंकार, 1, 28-29)
9. 'आख्यायिका' **अथवा** 'कथा' का स्वरूप-निरूपण कीजिए।

2·16 पठनीय ग्रंथ :

हिन्दी

काव्यशास्त्र – डॉ॰ भगीरथ मिश्र
भारतीय साहित्यशास्त्र – पं॰ बलदेव उपाध्याय
रूपक रहस्य – श्यामसुन्दर दास
वाङ्मय विमर्श – विश्वनाथप्रसाद मिश्र

संस्कृत

काव्यालंकार – भामह
दशरूपक – धनंजय
काव्यादर्श – दण्डी
साहित्यदर्पण – विश्वनाथ

Λ Λ Λ